

उच्च शिक्षा : समय बर्बाद करती युवा पीढ़ी

□ गोपाल सिंह

मैं इस विषय पर बहुत उन्नत विचार रखने का दावा नहीं करता लेकिन चिंतन अवश्य करता हूँ। उच्च शिक्षा की बात करते हुए मैं स्नातक स्तर की प्रथम वर्ष से प्रारंभ होने वाली शिक्षा से ही बात आरंभ करता हूँ।

मेरे मस्तिष्क में श्रेष्ठता का कोई सापेक्षिक अर्थ या महत्व नहीं है। जहाँ व्यक्ति या राष्ट्र सफल हो जाता है वहीं वह अपने तर्ई श्रेष्ठ हो जाता है। किसी राष्ट्र की सफलता के लिए जितना आधार उसकी प्राकृतिक संपन्नता प्रदान करती है उतना ही उसे संभव बनाती है वहाँ के नागरिकों के जीवन की सफलता। राष्ट्र के नागरिकों से किसी प्रकार की अपेक्षा करते हुए हम सबसे अधिक निर्भर रह सकते हैं वहाँ की युवा पीढ़ी पर। युवा पीढ़ी का बड़ा हिस्सा अपने अधिकतम ऊर्जावान समय में अध्ययनरत रहता है। अतः राष्ट्र निर्माण में योगदान करने के लिए हमारी उच्च शिक्षा-व्यवस्था को युवाओं का महत्वपूर्ण सहयोग करना चाहिये, जो वर्तमान में 'भारत' राष्ट्र में नहीं हो रहा है।

वस्तुस्थिति के अनुसार उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम, विश्वविद्यालयी व्यवस्था, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा के सामाजिक सरोकार, उपाधियों की उपादेयता आदि का कुल योग जीवन के युवा समय को अपने साथ इतना ही संलग्न किये हुए है कि वहाँ उस समय को केवल व्यर्थ, अनैतिक और उद्देश्यहीन कार्यों में तो खर्चा जा सकता है लेकिन चाहकर भी वहाँ जीवन या सामाजिक समझ के उत्पादन की दिशा नहीं खोजी जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति जो हमारे स्कूलों-कालेजों और वहाँ सम्पन्न होने वाली गतिविधियों के विषय में विचार करता है, प्रकारान्तर से उपरोक्त विचारों को स्वीकारता है। वास्तव में वर्तमान पाठ्यक्रम और शैक्षणिक कार्यक्रम में इतना विस्तार (क्षमता) और चुनौती ही नहीं है कि वह विद्यार्थियों की समस्त ऊर्जा को व्यायाम प्रदान कर सके। सामाजिक दोहन में उसे संलग्न कर राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ा सके। कला विषयों का पाठ्यक्रम तक छात्र में कल्पनाशीलता का सृजन करने में अक्षम है, बल्कि यदि कोई छात्र वहाँ अपनी स्वअर्जित क्षमता का प्रदर्शन करे तो उसे वर्तमान लीचड़ मूल्यांकन पद्धति के रहते नुकसान उठाना पड़ता है। जब उत्तर-पुस्तिका जांचकर्ता अपने रेटे-रटाये उत्तरों और किताबों में आ गई बातों को ही ज्ञान की अन्तिम सीमा मानकर अंक प्रदान करता है तब विद्यार्थी क्यों नहीं परीक्षा के दो घण्टे पहले वन-वीक सीरीज पढ़े और चुनींदा प्रश्नों के उत्तर जो

तत्काल याद रह जाते हैं को ही उन्हीं व्याख्याओं में शीर्षक बदल-बदल कर पूरक उत्तर-पुस्तिकाओं तक विस्तारित कर दे, प्रथम श्रेणी अर्जित करे, उसके पांच दिन पश्चात यदि उसे वे उत्तर याद नहीं है तो क्या? यह प्रणाली इसलिए अधिक कारगर भी है क्योंकि किसी भी विषय में 20 से अधिक प्रश्न बनते ही नहीं हैं। विद्यार्थी पर होने वाले इसके हानिप्रद प्रभाव निम्नानुसार हैं।

1. पढ़ाई छात्र के लिए एक ऐसा बहाना है जो छात्र को अपने परिवार और समाज से आंख-मिचौनी के पूरे-पूरे मौके उपलब्ध कराती है। छात्र जानते हैं उनके कालेज न पहुंचने से किसी तरह का फर्क उनके परीक्षा परिणाम पर नहीं पड़ने वाला। अगर वे वहाँ पहुंचे भी तो बहुत संभव है वहाँ प्रोफेसर नहीं पहुंचे हों। वे घर से निकलेंगे सड़कों पर आवागार फिरे के लिए, वाहन दौड़ायेंगे, समूहों में बैठकर खुराफात करेंगे, अधिक से अधिक समय घर के बाहर गुजारेंगे। ये भी कहते हैं लड़कियों का पीछा करेंगे लेकिन मेरी दृष्टि में वह समय बर्बादी नहीं है। छात्र चाहकर भी अपने समय को किसी रचनात्मक कार्यक्रम के लिए उपयोग नहीं कर सकते क्योंकि कुछ नहीं होते हुए भी कालेज एक हस्तक्षेप तो होता ही है।

2. वे आसान और प्रस्तुत परिस्थितियों में अधिक तार्किक प्रतीत होने वाले रास्ते पर चलकर परीक्षा के लिए कम समय की त्वरित तैयारी करते हैं। ऐसे तरीके से रेटे उत्तर और भी अधिक तेजी से विस्मृत हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि छात्र जिस विषय में उपाधि प्राप्त होता है उसी विषय में लगभग ज्ञान-शून्य हो जाता है, इससे अवसर-अवसर पर ग्लानि भोगता है।

3. जब छात्र अपना समय कालेज से अन्यत्र व्यतीत करते हुए जीते हैं तो कुछ नहीं होते हुए भी सामाजिक अविश्वास के पात्र बन जाते हैं।

4. महाविद्यालयों में पकाकर तैयार की गई उपाधि धारकों की फसल वस्तुतः ऐसे अपाहिजों की तादाद होती है जो अपने लिए स्वयं कोई भी दिशा चुनने में सर्वथा अक्षम होती है। लेकिन उनके पास वे उपाधियां होती हैं जिनके आधार पर वे हड़तालें करें, तोड़-फोड़ करें और दृष्टिहीन तरीके से अपने जीवन को किसी लगभग असंभावित की प्रतीक्षा में चुकने दे सकें।

5. राष्ट्र की अमूल्य युवा ऊर्जा जब वह स्वयं अपने भविष्य की अनिश्चितता की खाई में पड़ी हो तो वह न अपने समाज के

विषय में और ना ही राष्ट्रीय उत्थान के लिए किसी कर्मठापेक्षी दिशा में सोच सकती है ।

6. राष्ट्र की मुख्यधारा के समानान्तर लगभग दृढ़-स्थापित अराजक संस्थायें अव्यवस्था की कमियों का लाभ उठाकर युवा पीढ़ी को अपने साथ संलग्न करने में एक हद तक सफल रहती हैं ।

7. उच्च-माध्यमिक स्तर तक अध्ययन की जो थोड़ी बहुत आदत छात्रों की होती है महाविद्यालय में प्रवेश करते ही विज्ञान विषय के छात्रों को छोड़कर अन्य विषयों के छात्र यह आदत बरकरार नहीं रख पाते । शनैः शनैः लिखने की गति भी कम होती जाती है । विज्ञान-विषय के छात्रों के साथ भी एक अन्य समस्या उत्पन्न हो जाती है, वे अपने विषय से इतर अन्य व्यावहारिक ज्ञान से दूर हो जाते हैं ।

शैक्षिक-व्यवस्था में जो सुधार चाहता हूँ उनका जिक्र विस्तार से कर रहा हूँ -

1. प्रत्येक विषय के छात्रों के लिए समस्त शैक्षणिक सत्र के लिए अवधिमय निर्धारित कार्यक्रम होना चाहिये । एक ऐसा दैनिक कार्यक्रम जिसमें छात्रों की व्यक्तिगत-अभिरुचि के लिए समय-समायोजन हेतु पर्याप्त लोच हो ।

2. छात्रों को अपने विषय के पाठ्यक्रम में गुणात्मक और परिमाणात्मक सुधार करने की छूट हो । जो अतिरिक्त सामग्री (पाठ्यक्रम से संबंधित) छात्रों द्वारा चाही जाये वह विश्वविद्यालय द्वारा जिम्मेदारी पूर्वक यथा संभव छात्रों को उपलब्ध कराई जाये । छात्रों द्वारा लोकतांत्रिक ढंग और समुचित तर्कों से पाठ्यक्रम के जिस भाग को अप्रासंगिक अनुचित या मिथ्या साबित किया जाये उसे हटाने या बदले जाने की समुचित व्यवस्था हो ।

3. छात्रों को एक मुख्य विषय पढ़ते हुए कम से कम चार अन्य विषयों में अध्ययन करना आवश्यक हो ।

4. प्रत्येक छात्र को किसी एक भाषा में पारंगत किया जाकर दो अन्य भाषाओं में उसकी सामान्य अभिव्यक्ति सुनिश्चित की जाये ।

5. प्रत्येक छात्र के लिए अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, शरीर विज्ञान एवं प्राथमिक चिकित्सा शास्त्र के प्रमुख आधार, भारतीय राज-व्यवस्था (संविधान), संस्कृति, भूगोल, वाणिज्य आधुनिक

तकनीकी का परिचयात्मक, सामान्य विज्ञान आदि विषयों का आधारभूत ज्ञान, विषय और सिद्धांत की मूल अवधारणाओं का स्पष्टीकरण उसके शैक्षिक जीवन में निश्चित रूप से करा दिया जावे ।

6. उच्च शिक्षा के लिए छात्रों का छात्रावासों में रहना अनिवार्य किया जाये ।

7. छात्र-जीवन को व्यक्तिगत सम्पन्नता के प्रदर्शन से पूर्णतः रोका जाये । छात्रावासों में उन्हें जीवन के सामान्य कार्यों का शारीरिक अभ्यास करवाया जाये । छात्र जीवन में काम आने वाली वस्तुओं की पूर्ति प्रत्येक विपन्न या सम्पन्न छात्र के लिए विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित मापदण्डों के अनुसार हो । केवल उन्हीं वस्तुओं के इस्तेमाल की इजाजत हो जो सभी छात्रों के पास लगभग समान स्तर की हों ।

8. महाविद्यालय केवल शिक्षा घर ही न हो, उनकी आय के लिए वहां समाज से सामान्य रूप से जुड़े हुए उद्योग-धंधे हों । उनके संचालन में छात्रों एवं अध्यापकों की समान भागीदारी हो । प्रत्येक छात्र किसी एक व्यावसायिक कार्य में निपुण हो । (कौशल के विकास से आशय है ।)

9. प्रत्येक छात्र किसी एक साहित्यिक, सांस्कृतिक या खेलकूद (योग सहित) अभिरुचि में निष्णात हो । इसका मापदण्ड सृजनात्मकता, कल्पनाशीलता, एकाग्रता या प्रदर्शन हो । छात्र का एकाधिक प्रकृति के सांस्कृतिक आयोजनों में सक्रिय सहयोग भी हो ।

10. वर्ष पर्यन्त छात्रों द्वारा सामाजिक सहयोग और सामाजिक उत्पादन के कार्य परिवर्तन या स्थानान्तरण आधार पर संपन्न किये जायें । (वर्तमान प्रणाली पूर्णतः नाकामयाब है) । इस प्रकार के स्थापित संगठन किसी प्रकार का हस्तक्षेप महसूस न करे बल्कि यह उनकी रोजमर्रा की आदत के रूप में हो । कठोरता से यह जांच होनी चाहिये कि ऐसे कार्य खानापूर्ति न हों ।

11. छात्रों को लोकतंत्र का अभ्यास इस स्तर का हो कि वे आगे चलकर स्वस्थ और नैतिक समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध रहें ।

12. मूल्यांकन पद्धति में छात्र की तथ्यात्मक जानकारी के संतुष्टिजनक स्तर के पश्चात विषय के उसके समृद्ध आत्मिक चिंतन को बल दिया जाये । उसकी निर्णय लेने की शक्ति, सशक्त अभिव्यक्ति और तथ्यों-विचारों का तार्किक विवेचन उसके अधिक अंक प्राप्त

करने का आधार बने ।

13. किसी विषय में मात्र 36 % अंकधारी छात्र को स्नातक और अधिस्नातक उपाधि प्रदान करना हास्यास्पद है । इन उपाधियों के लिए न्यूनतम उत्तीर्णांक साठ या सत्तर प्रतिशत होने चाहियें ।

14. शिक्षा और छात्रों पर आने वाले खर्च का अधिकांश भाग सरकार द्वारा वहन किया जाये एवं सामाजिक न्यास विश्वविद्यालयकी आर्थिक सहायता करें ।

यह प्रतीत होता है कि वर्तमान में राष्ट्र के पास साधन बहुत सीमित हैं और उपरोक्त सुझाव भी वर्तमान वातावरण में अप्रासंगिक लग सकते हैं, साथ में परिणामात्मक रूप में छात्र पर शिक्षा का असहनीय बोझ बढ़ाने वाले हैं । लेकिन, मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि न देश के पास साधन कम होंगे और न छात्रों पर अति शिक्षा का बोझ होगा । मैंने अभी-अभी विश्वविद्यालय छोड़ा है और किसी रूप में थोड़ा सा अभी जुड़ा हुआ भी हूँ । छात्रों में अपार ऊर्जा है उनके पास समय की कोई कमी नहीं है, हां दिशा नहीं है, दृष्टि नहीं है । जहां तक साधनों का सवाल है, सरकार पहले अव्यवस्था फैलाती है फिर उस पर धन बर्बाद करती रहती है । शिक्षकों का चयन ? जिस तरह शिक्षक छात्र को अनुत्तीर्ण कर देते हैं उसी तरह छात्र भी शिक्षक को अनुत्तीर्ण कर सकें । चूंकि यह एक स्थापित प्रणाली को बदलने का प्रश्न है, अतः प्रारंभिक कठिनाइयां अवश्य आयेंगी । बहुत संभव है यह प्रणाली बेरोजगारी को जड़ से मिटा दे । मेरे विचार में इसकी सफलता भी यही है कि विश्वविद्यालय से निकला हुआ व्यक्ति बिना समय खोये, बिना

सरकार का मुखापेक्षी रहे शीघ्र अपनी आजीविका शुरू कर दे । ऐसे कार्य जो हमारे प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम कुशलतम दोहन करते हों और रोजगार का सृजन करते हों । ये व्यक्ति हमेशा नैतिक और ईमानदार रहेंगे मेरा यह विश्वास इस आधार पर है कि वे केवल मस्तिष्क सम्पन्न ही नहीं होंगे बल्कि श्रमशील होंगे । दूसरी ओर हमारा राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ने लगेगा, सरकारी वित्त जो अधिकांश कर्ज चुकाने और सब्सिडी प्रदान करने में चुक जाता है का उपयोग ऐसे श्रमवान व्यक्तियों को ऋण प्रदान करने में विनियोग किया जा सकेगा । इन्हीं लोगों में से आगे चलकर राजनेता होंगे और मतदाता भी ये ही होंगे जिससे वर्तमान राजनीतिक चरित्रहीनता से भी राष्ट्र मुक्ति पा सकेगा ।

पाठ्यक्रम की विशालता प्रतीत होती है लेकिन यह कार्यक्रम छात्र अपने न्यूनतम सात वर्ष के विश्वविद्यालयी जीवन में आसानी से सम्पन्न कर सकता है ।

वर्तमान में उच्च शिक्षार्थियों का भविष्य बहुत उज्ज्वल भी है लेकिन किनका ? जो या तो बहुत अधिक व्यय करके ऐसी डिग्री प्राप्त कर लेते हैं जो व्यावसायिक शिक्षा से संबंधित हैं या जो कोई उच्च पद प्राप्त कर लेते हैं । लेकिन सभी पेशेवर पाठ्यक्रमों में सफलता के अवसर नहीं है और न ही किसी में शत प्रतिशत सफलता की आशा है । यह बात और है कि ये लोग स्वधन्य तो हो जाते होंगे लेकिन इनका सामाजिक योगदान क्या होता है यह भी मूल्यांकन का विषय है । क्या ये योग्य और उत्तरदायी नागरिक बन पाते हैं या इनका योगदान केवल अर्थ तक ही सीमित रहता है ? ♦

शिक्षा एवं शिक्षक दोनों यथास्थिति के पोषक

□ नरेन्द्र पुण्डरिक

आजादी के बाद देश में जिस तरह से शिक्षा प्रणाली लागू की गई, उससे समाज में शिक्षित होने का स्तर गिरता चला गया । हमारे यहां शिक्षा का मतलब या तो अक्षर ज्ञान से है या जीवकोपार्जन की सुविधा प्राप्त करने से है । इसके अलावा शिक्षा का और कोई भी उद्देश्य होता है, इसे जानने की या बच्चों के समक्ष प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

बच्चों को पढ़ाई जाने वाली सामग्रियों को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि बच्चों को जीवन एवं समाज की सच्चाईयों से दूर ही रखा गया है । जो भी किताबों में जीवन व समाज के थोड़े बहुत सच सामने आए हैं वे मात्र पढ़ने के लिए रहे हैं । जीवन के साथ उनको लागू करने की कोशिश के साथ उनका कभी कोई

संबंध नहीं रहा है । बच्चों को शिक्षा की शुरूआत में ही किताबों द्वारा पढ़ाया जाता रहा है, 'कोई छोटा बड़ा, ऊंच नीच नहीं है, हमें भेद-भाव नहीं करना चाहिए ।' यह सब बच्चों को पहली दूसरी कक्षा से ही पढ़ाया जाता है । लेकिन अनेक स्कूलों में यह पढ़ने के तत्काल बाद ही दलित बच्चे सवर्ण बच्चों से कुछ हटकर दूर बैठते हैं ।

वे यह पढ़ाने वाले अध्यापकों द्वारा ही जातिगत आधार पर लाक्षित होते हैं । यानी जो किताबों से अभी अभी पढ़ाया गया था वह मात्र पढ़ने के लिए था, जीवन में लागू करने के लिए नहीं था ।

इस प्रकार शिक्षा को शुरू से ही जीवन की सचाई से काट कर ही रखा गया । यह परम्परा हजारों साल पुरानी थी जो शिक्षा को

कर्म एवं जीवन से सीधे जोड़ने के बजाय उसके समानान्तर एक दूसरी अलिखित अघोषित रेखा में जीवन को चलाती रही। पढ़ने के सच से जीवन का संबंध इसी अघोषित रेखा पर चलने चलाने का रहा है। समाज की रीढ़ औरत और दलित वर्ग दोनों को पढ़ने से दूर रखने की कोशिश की गई, ताकि दुनिया के अपेक्षाकृत बदलावको रोका जा सके, यथास्थिति बनाई रखी जा सके। पढ़ने का एकमात्र उद्देश्य जीवन के सच को जानना नहीं, जीवन के लिए सुविधायें जुटाना था। औरतो और दलितों का ठेका तो उन सवर्ण पुरुषों के पास था जो यथास्थिति के पक्षधर थे, और उनके द्वारा ही घोषित था कि औरतों को उतना ही पढ़ना चाहिये कि वह रामायण पढ़ सकें। लेकिन दलित वर्ग को इतनी भी छूट नहीं थी।

आज भी गांव के कई घरों में जहां जीवन-यापन की, जीवन की सुविधाओं की पर्याप्तता है उन घरों में लड़कियों को एवं बच्चों को ज्यादा नहीं पढ़ाते। इसके लिए उनका यहा पारम्परिक तर्क होता है, 'कौन इन्हें नौकरी करना है, घर का धंधा ही देखना है।' यानी जो कुछ भी अब तक बच्चों को पढ़ाया जाता रहा है उसका इनके जीवन के सोच के लिए कोई अर्थ नहीं था। यानी जीवन हजारों साल से चले आ रहे खाचों एवं सांचों में

चलना है - ढलना है। शिक्षा का ढांचा परम्परागत सोच को तोड़ने का काम नहीं करता, वरन अच्छा खासा पढ़ लिख लेने के बाद भी किसी को परम्परागत सोच धारण करने में दिक्कत नहीं होती। पढ़ने-लिखने का स्वांग हमारे यहां सभ्य दिखने का स्वांग है जो हजारों साल से खेला जा रहा है। इस पठन-पाठन से न रूढ़िवादिता प्रभावित होती है न जीवन के प्रति सोच प्रभावित होता है। इससे नये के नाम पर जो जुड़ता है वह अलग से गिनती योग्य नहीं होता।

स्कूलों कालेजों के हॉस्टलों में छात्रों का खाना बनाने के लिए जो महाराज रखे जाते हैं वे 90 प्रतिशत ब्राह्मण ही रखे जाते हैं। इसके पीछे खान-पान की पवित्रता नहीं अपितु जातिगत पवित्रता को ही ध्यान में रखा जाता है। सरकारी एवं गैर सरकारी शिक्षा

संस्थाओं में अधिकांश कार्य-व्यवहार पुस्तकों में उद्धरित ज्ञान के विपरीत समाज की परम्परागतता का ही पिष्टपेषण किया जाता रहा है। आज के 35-40 वर्ष पहले से लेकर अब तक मुझे याद

नहीं आ रहा है कि बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किताबों की कहानियों के राजा-रानी, पंडित-पंडितानी, सेठ-सेठानी या उनकी फटिक करने वाले कभी-कभार नाई अहीर को छोड़कर चमार भंगी, कही जाने वाली दलित जाति के लोगों को नायक बनाकर लिखी कहानियां इन किताबों में बच्चों को पढ़ने के लिए दी गई हैं। इनके जीवन-पक्षों को बच्चों के सामने इन किताबों में उजागर नहीं किया गया। बच्चों की इन किताबों में आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा और इस परिवर्तन पर लगातार सतर्क निगाह रखते हुए समय के साथ साथ इसमें फेरबदल नहीं किये जायेंगे, तब तक हजारों साल से चले आ रहे समाज की जड़ संस्कार ग्रस्तता को कमजोर नहीं किया जा सकता।

जब हम पढ़ते थे तब से लेकर देखते चले आ रहे हैं कि माध्यमिक स्कूल हो या डिग्री कालेज की कक्षायें, सभी में 90 प्रतिशत सवर्ण छात्र ही कक्षा की आगे की सीटों में बैठते रहे हैं। यदि दलित वर्ग के छात्र आगे बैठना भी चाहें

तो पहले संवर्ण छात्र ही उन्हें पीछे बैठने को मजबूर करते हैं। अनेक जगह तो कक्षाओं में अध्यापक ही दलित छात्रों को आगे की सीटों से हटाकर पीछे बैठने को कहते हैं। यह भेद बच्चों द्वारा कुछ कम अध्यापकों द्वारा ज्यादा किया जाता है। स्कूलों में अब तक कहीं कहीं अध्यापकों द्वारा दलित छात्रों को जाति सूचक शब्दों का प्रयोग करते देखा जा सकता है। आजादी के 50 साल बाद भी ऐसी स्थिति किसी न किसी तरह बरकरार है। इसका दोषी अध्यापक वर्ग ही ज्यादा है। इनकी ओछी हरकतों से शिक्षा की स्थिति अधिक बिगड़ी है और बिगड़ती चली जा रही है। ♦

आज के 35-40 वर्ष पहले से लेकर अब तक मुझे याद नहीं आ रहा है कि बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किताबों की कहानियों के राजा-रानी, पंडित-पंडितानी, सेठ-सेठानी या उनकी फटिक करने वाले कभी-कभार नाई अहीर को छोड़कर चमार भंगी, कही जाने वाली दलित जाति के लोगों को नायक बनाकर लिखी कहानियां इन किताबों में बच्चों को पढ़ने के लिए दी गई हैं। इनके जीवन-पक्षों को बच्चों के सामने इन किताबों में उजागर नहीं किया गया। बच्चों की इन किताबों में आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा और इस परिवर्तन पर लगातार सतर्क निगाह रखते हुए समय के साथ साथ इसमें फेरबदल नहीं किये जायेंगे, तब तक हजारों साल से चले आ रहे समाज की जड़ संस्कार ग्रस्तता को कमजोर नहीं किया जा सकता।